जून १९८९ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

बीस वर्ष पूरे हुए!

धर्मदूत की जीवन यात्रा के २० वर्ष पूरे हुए। १९६९ में परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना के आचार्यपद का महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपा। कुछ वर्षों से सहायक आचार्य के रूप में उनकी सेवा कर रहा था। उनसे प्रशिक्षण भी पर्याप्त मिला था। फिर भी यह गुरु-गंभीर दायित्व मिला, तो लगा कैसे सँभाल पाऊंगा? उनकी महानता से तुलना करता तो अपने आप को बहुत बौना महसूस करता। और फिर भारत जैसे देश में जाकर धर्म-दूत का काम करना तो और अधिक कठिन लग रहा था।

एक समय था जब कि धर्मदूतों के लिए ब्रह्मदेश एक प्रत्यंत प्रदेश था। याने परदेश था। भिक्षु सोण और उत्तर भारत से बर्मा गये तो प्रत्यंत प्रदेश में ही धर्म लेकर गये थे। अब स्थिति पलट गई थी। भारत से आई हुई धर्मगंगा भारत वापस लौट रही थी। स्वदेश जा रही थी। पर कड़वी सच्चाई तो यह थी कि एक प्रत्यंत में जा रही थी। जहां २५०० वर्ष पूर्व भगवान गौतम बुद्ध द्वारा कल्याणकारिणी विपश्यना साधना खोजी गई थी और वहीं इसके पूर्व भी अनेक सम्यक्‌सम्बुद्धों द्वारा बारबार यह विद्या खोजी गई थी उस मज्झिम देश में और उस भारत में ही नहीं बल्कि भारत से सारे विश्व में फैली थी, आज वह मज्झिम देश ही नहीं, सारा का सारा भारत विपश्यना शून्य हो गया है। जहां कभी घर घर में नर-नारी, बच्चे-बूढ़े, मालिक-नौकर, सभी विपश्यना साधना करते थे, वहां साधना करना तो दूर अब वहां की जन-भाषाओं में **"विपश्यना"** शब्द ही लुप्त हो गया है। मैं वहां जाकर कर पाऊंगा? कैसे सफल हो सकूंगा?

उस देश में विपश्यना ही नहीं अन्य किसी प्रकार के ध्यान का भी कोई आशाजनक माहौल नहीं है। धर्म के नाम पर केवल कर्मकांडों का या व्रत-उपवासों का, या बुद्धिविलास भरे प्रवचनों का, या भावावेशमयी भावुकता जगानेवाली कथाओं का अथवा भजन-कीर्तन का ही बोलबाला है। ऐसी अवस्था में कोई विपश्यना शिविर में सम्मिलित होने के लिए कैसे तैयार होगा जहां कि दस दिन शिविर के दौरान, सभी कर्मकाण्ड, पूजापाठ, व्रत-उपवास, भजन-कीर्तन, माला-जाप इत्यादि छोड़ने पड़ते हैं।

जिस देश में कहींकहीं कुछ लोगों में ध्यान की कोई प्रक्रिया चली भी है तो ध्यान के आलंबन नितांत काल्पनिक है या कृत्रिम है। अपनेही चित्त और शरीर से संबंधित सच्चाइयों को आलंबन बनाकर सत्य दर्शन पर आधारित इस विपश्यना ध्यान को कोई स्वीकारेगा भला? जब कहेंगे शुद्ध सांस पर ध्यान करो तो परंपरागत रूढ़ियों में पड़े हुए लोग इसे कदापि नहीं स्वीकारेंगे। सांस के साथसाथ कोई नाम या कोई मंत्र अवश्य ही जोड़ना चाहेंगे। इसी बात पर अडेंगे कि "यह तो कलियुग है और 'कलियुग केवल नाम आधार, सुमर सुमर भव उतरेउ पारा।' बिना नाम सुमरणवाला ध्यान इस काल में नही चल सकता।" अथवा इसी बात पर अड़ेंगे कि "ध्यान हो तो किसी देवी, देवता, ईश्वर, ब्रह्म के रूप का आलंबन होना ही चाहिए। बिना रूप का ध्यान सार्थक कैसे होगा? विपश्यना में तो न कोई नाम है, न कोई मंत्र है, न किसी देवी देवता या ईश्वर की आकृति या रूप का सहारा है। यह ध्यान हमारे किस काम का? लोग तर्क करेंगे, "परमात्मा के नाम या रूप के बिना ध्यान, ध्यान ही नहीं, अध्यात्म अध्यात्म ही नहीं। "यह बात कदापि स्वीकार नही करेंगे कि चित्त को जड़ो तक विकारोंसे विमुक्त करना ही तो अध्यात्म है। और चित्त को विकार विमुक्त करने का काम अपने भीतर की यथाभूत सच्चाई के दर्शन के आधार पर ही सफलीभूत होता है। यह तथ्य कोई स्वीकार ही नहीं करेगा क्यों कि इसे समझ भी तो नहीं पाएगा। और यदि बहुत कहने सुनने पर कोई व्यक्ति केवल सांस पर काम करने के लिए तैयार हुआ भी तो उसे प्राणायान बना लेगा। कृत्रिम सांस की कसरत बना लेगा। सांस के नियंत्रण का व्यायाम करने लगेगा। सांस को जैसा है वैसे देखने की विधि उसके समझ में ही नहीं आएगी। तो उसे स्वीकार्य ही कैसे होगी?

और जब सांस का काम करवाने के बाद विपश्यना के लिए शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को तटस्थ भाव से देखने का आदेश दिया जाएगा और उसके अनित्य स्वभाव को समझते हुए राग-द्वेष से छुटकारा पा सकोगे ऐसा कहा जाएगा तो भी विरोध करेंगे। "शरीर को क्या देखें? यह तो मिट्टी है। हम इसे ऐसा मानते ही हैं। यह अनित्य है, भंगुर है, नश्वर है, इस में नती बात क्या है? यह तो हम सदा से मानते आए हैं। इसे देखकर भला क्या मिलेगा? आत्मा या परमात्मा का दर्शन करवाओ, तो कोई मतलब की बात भी हो। उस दर्शन से तो भव-मुक्ति मिलेगी। शरीर दर्शन से क्या मिलेगा भला?" आत्मा और परमात्मा तो नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है। उनका दर्शन मुक्ति प्रदायक है। यह माननेवाले लोग, यह स्वीकारेंगे ही नहीं कि अनित्यता का दर्शन उसके प्रति तादात्म्य भाव तोड़कर अनासक्त होने के लिए करवाया जा रहा है। लक्ष्य तो नित्य तक पहुँचने का ही है। वे इसी बात पर उलझते रहेंगे कि "नित्य तक ही पहुँचना है तो नित्य का ही ध्यान क्यों न करें? अनित्य का क्यों करें? ध्यान करेंगे अनित्य का और पहुँचना चाहेंगे नित्य तक। यह भला कैसे संभव होगा?" उन्हें हजार समझाएं कि अनित्य से तादात्म्य टूटा कि नित्य सहज ही प्राप्त हुआ। पर वे कहां समझेंगे? कहां मानेंगे?

और फिर इस बात पर तर्क करेंगे कि "बुद्ध की शिक्षा तो सर्वत्र दुख ही दुख सिखाती है। इससे तो जीवन बड़ी निराशा से भर जाएगा। जीएंगे कैसे? जब कि सच्चाई यह है कि जीवन जगत में दुख के साथसाथ सुख भी है। केवल दुख ही दुख है यह कैसे मान लें?" ऐसी अवस्था में उन्हें हजार समझाया जाय कि जिसे तुम सुख मानते हो, वह ऐन्द्रिय-सुख अनित्य होने के कारण दुःखगर्भा ही है। वास्तविक सुख तो उस नित्य, शाश्वत, इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था में है। वही यथार्थतः परम सुख है। अतः यह शिक्षा तुम्हारे मन में निराशा नहीं बल्कि आशा जगाएगी। क्यों कि इस रास्ते चल कर सारे दुख क्षेत्र को पार कर उस परम सुख निर्वाण तक पहुंच पाओगे। बुद्ध की शिक्षा आशा से भरी हुई है। इसमें निराशा का नामोनिशान नहीं है। पर वे यह मानने को कैसे तैयार होंगे? क्यों कि देश में इसी जीवन में निर्वाणिक अवस्था की अनुभूती कर सकने की परंपरा ही लुप्त हो गई। साधना ही लुप्त हो गई।

और फिर कोई इस बात पर ही शंका करेंगे कि "यह तो निवृत्ति का मार्ग है। इस पर चलने के लिए घरबार छोड़ना पड़ेगा और हम अभी इस के लिए तैयार नहीं है।" उन्हे कोई हजार समझाए कि गृह त्यागने से साधना करना अवश्य आसान हो जाता है, परंतु हर साधक के लिए त्यागना आसान नहीं है। अतः गृहस्थ रहते हुए भी विपश्यना

का लाभ लिया जा सकता है। भगवान् के समय कितनी बड़ी संख्या में गृहस्थ इस विद्या का लाभ उठाते रहे। उनके पश्चात् भी सदियोंतक यह विद्या देश के गृहस्थ नागरिकों का कल्याण करती रही। परंतु जिस देश में नागरिकों को इन सारी बातों की जरा भी जानकारी नहीं वे इसे कैसे स्वीकार करेंगे? वे तो इसे महज निवृत्ति का मार्ग मानकर इससे दूर ही रहना ठीक समझेंगे।

और फिर भगवान् बुद्ध की शिक्षा पर नास्तिकता का आरोपण। जिन लोगों की नजरों में काल्पनिक आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना ही आस्तिकता है वे यह कैसे मानेंगें कि कर्म और कर्मफल को स्वीकार करना वस्तुतः आस्तिकता है। चार्वाक की तरह खाओ, पीओ, मौज करो, मरने के बाद कोई कर्मफल नहीं होता ऐसे लोकायत सिद्धान्त को मानना नास्तिकता है। पर इसे कोई समझना ही कहां चाहेगा? जो लोग ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने मात्र को ही अध्यात्म मानते हैं, जिनके लिए आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को बिना स्वीकार किए कोई व्यक्ति वीतराग, अनासक्त, भवमुक्त हो ही नहीं सकता, ऐसी दार्शनिक मान्यता की जकड़न में जकड़े हुए लोग, कल्पनाओं से मुक्त इस शुद्ध वाज्ञानिक साधना को कैसे स्वीकार करेंगें भला? दार्शनिक मान्यताओं को और सम्प्रदाय को धर्म मानने वाले लोग, स्वधर्म-परधर्म के जंजाल में उलझे हुए धर्म के सार्वजनीन स्वरूप को कैसे स्वीकार कर सकेंगे?

और फिर सब से बड़ा विरोध तो एक इसी बात को लेकर होगा कि "भगवान बुद्ध की शिक्षा में कुछ अच्छाई होती तो शंकराचार्य जैसे हमारे पूर्वज उसे इस देश से क्यों निकाल देते? अवश्य ही इसमें कोई बड़ा खोट है, दोष है। तभी इस देश ने इसे स्वीकार नहीं किया। और आज भी इसे वे ही स्वीकारते हैं जो अछूत है। सचमुच यह तो अछूतों का ही धर्म है। उन्हें छोड़कर समाज का कोई वर्ग भी तो इसे नही अपनाता।" इस तरह के तर्कों की झड़ी लगा देंगें। मेरी बात कौन सुनेगा? ब्रह्मदेश में जनमने और पलने पर भी भारतवंशी था। भारतीय मूल का बर्मी नागरिक था। अतः भारतीय जन-मानस को खूब समझता था। सोचता था भारत जाने पर इस तरह के प्रश्न सामने आएंगे ही। विपश्यना का अनुभव करने के पहले मैं भी इनमें से अनेक प्रश्नों में उलझा था। विपश्यना की सत्यानुभूति ने ही मुझे इन उलझनों में से बाहर निकाला। पर कोई स्वयं सत्यानुभूति करेगा ही नहीं तो समझेगा कैसे?

और फिर एक और बहुत बड़ी कठिनाई मुँह बाए खड़ी थी। सारे विरोधों को दर किनार कर के भारत की इस पुरातन विद्या को कोई आजमाकर देखना भी चाहेगा तो इस बात के लिए कैसे तैयार होगा कि दस दिन तक घरबार छोड़कर, कामधंधा छोड़कर, मेरे साथ आकर रहे। यह कौन स्वीकारेगा भला? जब कि जो भी अन्य ध्यान साधनाएं देश में शुरू हुई हैं, उन में तो थोड़ी सी देर कोई मंत्र का ध्यान सीखा अथवा तंत्र की क्रिया साखी, अथवा आसन प्राणायाम सीखा अथवा मार्गदर्शक के प्रवचन सुने और अपने-अपने घर लौट आए। घर में थोड़ी देर अभ्यास कर लिया। कितना सरल, कितना सीधा, कितना आसान। और यहां तो दस दिन तक घरबार से ही नहीं सारे संसार से संपर्क तोड़ना होगा। न चिट्ठी, न पत्री, न अखबार, न रेडिओ, न टीवी। भला इसे कौन स्वीकारेगा?

और स्वीकार इसलिए भी नहीं करेगा कि मैं कोई साधु-संन्यासी नहीं, भिक्षु-मुनि नहीं, कोई चमत्कारी लोक-प्रसिद्ध गुरु नहीं। मुझ जैसे सर्वथा अनजान और वह भी एक सामान्य गृहस्थ के पास जीवन के मूल्यवान १० दिन बिताने के सुझाव को कोई कैसे स्वीकार कर लेगा?

और कोई स्वीकार कर भी लेगा तो व्यवस्था कैसे होगी? दस दिनों के लिए सभी साधक-साधिकाओं के लिए आवश्यक निवास-स्थान का, खाद्यवस्तुओं का, भोजन बनानेवालों का, आवश्यक बर्तन-भांडे, ओढ़ने-बिछावन का, सेवकों आदि का प्रबंध कौन करेगा? ऐसे प्रबंधक कहां मिलेंगे? और फिर शिविर लगाने के लिए प्रारंभ में आवश्यक अर्थ भी तो चाहिए। कहां से आएगा? भारतवासी सभी स्वजन परिजन किसी भिन्न पथ के पथिक थे। उनसे क्या आशा की जा सकती थी। उन्हें छोड़कर करोड़ों की आबादी वाले उस देश में अन्य कौन मुझे जाने? अतः कौन मेरा साथ देगा?

ऐसे और इन जैसे सही या गलत अनेक प्रश्न मन मानस को मथने लगे थे। एक ओर पूर्वजों की पावन भूमि जहां न जाने कितने बोधिसत्त्व और बुद्ध जन्मे, कितने जिन और अर्हन्त, कितने ऋषि और मुनि, कितने संत और सतपुरुष जन्मे; जहां न जाने कितनी बार शुद्ध धर्म जन्मा और लोक कल्याणकर होता हुआ विश्व में फैला, उस परम पावन धर्म भूमि का स्मरण मन में पुलक रोमांच भर देता; उस पुरातन बुद्ध भूमि का आकर्षण भरा आह्वान धर्मदूत की चारिका के लिए मन में धर्म संवेग जगाता; "चरथ भिक्खवे चारिकं" का मंजुल मंगल घोष अणु अणु में उमंग और उल्लास की धर्मतरंगें जगाता; विपश्यना विहीन भारत देश में फिर धर्म की गंगा बहेगी, विपश्यना घरघर में सुख शांति पहुंचाएगी, ऐसा चिंतन मात्र मनमानस को उर्मिल उर्मिल कर देता; परन्तु दूसरी ओर उपरोक्त प्रश्न सारे उत्साह और उमंगों के उफान पर पानी छिड़क कर उसे ठंडा कर देते।

मेरी ऐसी मनोस्थिति पूज्य गुरुदेव ने भांप ली। तो बड़े प्यार और आश्वासन भरे शब्दों में कहा, "तुम क्या कर पाओगे रे? मत समझो कि तुम भारत जा रहे हो, तुम्हारे माध्यम से मैं भारत जा रहा हूं। धर्म भारत जा रहा है। धर्म अपना काम स्वयं करेगा। उसे कौन रोक सकता है? अब उसके जागने का समय आ गया है। जैसे २५०० वर्ष पूर्व भारत में ही और विपश्यना द्वारा ही शुद्ध धर्म जागा था और लोक कल्याणका साधन बना था वैसे ही अब द्वितीय बुद्ध शासन का आरंभ होगा, धर्म का दूसरा दौर आरंभ होगा, और वह भारत में विपश्यना से ही आरंभ होगा। अब समय पक गया है। विपश्यना का डंका बज गया है। उसे कौन रोक सकता है भला? धर्म अपना काम स्वयं करेगा। तुम तो केवल माध्यम बन जाओगे। बहुत पुण्य पारमीवाले हो इसलिए तुम माध्यम बन सकने का अवसर पा रहे हो। अपनी पुण्य पारमिताओं को और अधिक पुष्ट करने का अवसर पा रहे हो। जाओ, निश्चिंत होकर जाओ। धर्म अपना काम स्वयं करेगा।" कुछ इस प्रकार के शब्दों में गुरुदेव ने प्यार भरा आश्वासन दिया। उनकी मंगल वाणी मेरी धर्मयात्रा की पाथेय बनी और मै अपरिमित उत्साह लिए भारत आया।

आने पर देखा कि सचमुच वही हुआ जो पूज्य गुरुदेव ने कहा था। धर्म अपना काम स्वयं करता है। भारत पहूँचने पर पूरा एक महीना भी नहीं बीत पाया कि बम्बई शहर में पहला विपश्यना शिविर लगा। ११ दिन बाद ही मद्रास में दूसरा शिविर लगा और फिर तो तांता लग गया। एक के बाद एक शिविर लगते ही गए, लगते ही जा रहे हैं। धर्म चक्र चला तो चलता ही गया, चलता ही जा रहा है। चिरकालतक चलता ही जाएगा।

सचमुच धर्म स्वयं अपना काम करता है। व्यक्ति तो महज माध्याम बन जाता है। जब ब्रह्मदेश से चला तो मन में कितने प्रकार के प्रश्नचिन्ह उभर रहे थे, कितनी प्रकार की कठिनाइयों के आशंका भरे तूफान चल रहे थे मन में। यहां आने पर बाधाएं आईं भी तो उनका धीरज, समता और मैत्रीपूर्वक सामना करना भी आया। तमाम मुश्किलें अपने आप आसान होती चली गईं। धर्म सहायता करता चला। कदम कदम पर धर्म की सहायता प्रत्यक्ष महसूस होने लगी।

डर था १० दिनों के शिविर लगाने के लिए स्थान कहां से मिलेंगे? और देखा स्थान पर स्थान मिलते जा रहे हैं। कहीं धर्मशालाएं मिली तो कहीं अन्य सार्वजनिक स्थान; कहीं स्कूलभवन मिले तो कही कॉलेजों के ,विश्वविद्यालयों के ,रिसर्च इन्स्टिट्यूटों के धात्रावास; कहीं पुस्तकालय का भवन मिला तो कहीं स्टेडियम के कक्ष;कहीं कोई भव्य राजमहल मिला तो कहीं टूटा-फूटा पुरातन खंडहर; कहीं गांधी और विनोबा जैसे संतों के आश्रम मिले तो कहीं तीर्थस्थानों की विशाल कोठियां; कहीं किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान के आवास मिले तो कहीं किसी धनी श्रेष्ठी का भव्य निवास भवन और कहीं खुले मैदान में लगे तंबू; कहीं होटलें मिलीं तो कहीं कोई सैनिटोरिअम और कहीं कोई उपचार केन्द्र; कहीं यूथ होस्टेल मिले तो कहीं होलिडे कैम्प अथवा स्काउटकैम्प,कहीं पुलिस एकेडमी का कैम्पस मिला तो कहीं जेल की कोठरियां; और कहीं हिन्दुओं के मन्दिर मिले, कहीं बौद्धों के विहार और जैनियों के उपाश्रय, कहीं ईसाइयों के गिरिजाघर मिले और कहीं मुसलमानों की मस्जिद। जैसे शुद्ध धर्म के स्वागत के लिए सारे ताले टूट गए, सारे दरवाजे खुल गए। सचमुच धर्म बड़ा महान है, बड़ा बलवान है, धन्य है धर्म! धन्य है धर्म की धर्मता!

और कितनी निर्मूल साबित हुई मन की यह आशंका कि इस विशाल देश में मुझ जैसे अनजान व्याक्ति का कौन साथ देगा? धर्म से बढ़कर और कौन साथ देनेवाला है? सचमुच मेरे तो दो ही हाथ पर धर्म के हजारों हाथ। और आगे आ गए ये हजारों हाथ इस धर्म आंदोलन में हाथ बँटाने के लिए।

स्वयं किसी तांत्रिक साधना में जुड़े रहने पर भी यह भारतवासी स्वजन, परिजन विपश्यना के फैलाव में सहयोगी बने और इस महान धर्मयज्ञ में योगदान देकर असीम पुण्य के भागीदार हुए। और अन्य कितने अपरिचित लोग हजारों की संख्या में साथ हो लिए। उन्हें अपरिचित भी कैसे कहूं?न जाने कितने जन्मों से धर्म के पथ पर साथ चलते आ रहे हैं, कितने जन्मों से साथ-साथ पुण्य पारमिताएं संचय करते आ रहे है। इन सबका सहयोग धर्म का ही सहयोग है। इनके हाथ धरम के ही हाथ हैं। सचमुच मेरे तो दो हाथ, धर्म के हजार हाथ। सचमुच धर्म बड़ा महान है! बड़ा बलवान है! धन्य है धर्म! धन्य है धर्म की धर्मता! !

अभी तो काम बहुत करना है, बहुत कुछ होना है। परंतु इन २० वर्षों में जो कुछ हुआ वह विपश्यना विकास की भावी द्रुतगति की ओर इंगित करता है। पिछले १३ वर्षों में भारत, नेपाल , इंगलैंड, फ्रान्स, अमेरिका, जापान, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में १४ विपश्यना केन्द्र खुल गाए और खुले ही जा रहे हैं। इन केन्द्रों में निःस्वार्थ सेवा करने वाले पके हुए अनेक विपश्यी साधक किस तन्मयता से सेवा के काम में लग गए हैं और उनमें से लगभग १०० पुरुष और महिलाएं सहायक आचार्य और आचार्य का दायित्व निभा रहे हैं। उन्हें कोई वेतन नहीं मिलती। यह उनके धनोपार्जन का साधन नहीं है। हरएक के पास उसकी अपनी स्वतंत्र आजीविका है। धर्मसेवा किसी लाभ सत्कार की आशा से नहीं बल्कि इसलिए कर रहे हैं कि जिस विद्या से उनका अपना लाभ हुआ है, उससे अन्य दुखियारे भी लाभान्वित हों। विपश्यना द्वारा लोगों का दुख कम होते देखते हैं तो बड़ा आत्मसंतोष होता है, बड़ी प्रसन्नता होती है। यही प्रेरणा का स्त्रोत है। इसी प्रेरणा से काम कर रहे हैं। और अपनी पुण्य पारमिताओं का संवर्धन कर रहे हैं। धन्य हैं ये निःस्वार्थी धर्मसेवक-सेविकाएं! धन्य है ये निःस्वार्थी धर्मशिक्षक-शिक्षिकाएं! धन्य है धर्म! धन्य है धर्म की धर्मता!!

और जो एक घबराहट थी कि इतने कड़े अनुशासनवाले शिविरों में कौन भाग लेने आएगा? भले १० दिन के लिए ही सही कौन अपने कर्मकांड छोड़ेगा? व्रत-उपवासादि छोड़ेगा? पर धर्म के सैलाब ने यह आशंका भी निर्मूल साबित कर दी। समूह के समूह लोग आने लगे। पूज्य गुरुदेव अनेक बार कहा करते थे, "२५०० वर्ष के बाद यह धर्म का दूसरा दौर है। यह भारत में आरंभ होगा और विपश्यना साधना द्वारा ही आरंभ होगा। सारे विश्व मे फैलेगा। विपश्यना साधना के आधार पर ही फैलेगा। इसी कारण इस समय भारत में और विश्व में भी ऐसी पुण्य पारमितावाले अनेक लोग जन्में हैं जो कि विपश्यना का बीज लेने के लिए तैयार बैठे हैं और अनेक ऐसे भी जन्में हैं, जो इस काम में सहयोग देकर अनेक जन्मों से संग्रहित अपनी पुण्य पारमिताओं का और अधिक संवर्धन करने के लिए, उन्हें और अधिक संपुष्ट, सबल बनाने के लिए तैयार बैठे हैं। ऐसे लोग अपने आप खिंचे चले आएंगे।"

और खिंचे ही चले आए, खिंचे ही चले आ रहे हैं, हर तबके के , हर वर्ग के ,हर संप्रदाय के ,हर जाति के ,हर देश के प्यासे लोग अपनी प्यास बुझाने के लिए धर्मगंगा के तट पर स्वतः खिंचे चले आ रहे हैं। न कोई व्यावसायिकों का सा प्रचार तंत्र है, न कोई राजकीय आश्रय है, न किसी व्यवस्थित मजहब व संप्रदाय का आधार है, न कोई "अपना धर्म खतरे में है" का मिथ्या भावावेश जगानेवाला नारा है, न किसी गुरुमहाराज का जादू या चमत्कार प्रदर्शन है जो कि लोगों को अपनी ओर खिंचे।

फिर भी लोग खिंचे चले आ रहे हैं। सभी प्रकार के लोग खिंचे चले आ रहे हैं। महानगरों की उंची अट्टालिकाओं में विलासी जीवन जीते हुए भी मन के दुखियारे लोग, झोपड़पट्टियों में अथवा सड़क की फुटपाथों पर सोनेवाले अभावग्रस्त दुखियारे लोग; अध्यापक-प्राध्यापक , आचार्य-प्राचार्य, डॉक्टर-इन्जिनिअर, वकील-बैरिस्टर, कवि-लेखक आदि प्रबुद्ध प्रशिक्षित कहलाने वाले नगरनिवासी और निपट निरक्षर ग्रामीण; मिथ्या अहंभाव से ग्रसित सवर्ण और इसी प्रकार हीनभाव से ग्रसित चिरदलित अवर्ण; सभी खिंचे चले आ रहे हैं और बहुसंख्या में आ रहे हैं। क्या है धर्म का चमत्कार जो उन्हें अपनी ओर खींचता है? यही धर्म का चमत्कार है कि क्रोध, द्वेष, अहंकार, अभिमान, भय, वासना से पीड़ित व्यक्ति अपने मनोविकारों से और तज्जनित दुःखों से विमुक्ति पाने का एक सरल वैज्ञानिक तरीका पाता है जो कि आशुफलदायी है। इससे बड़ा और क्या लाभ होगा? इससे बड़ा और क्या चमत्कार होगा? यही सब समुदाय के लोगों को आकर्षित करता है।

विपश्याना साधना का आलंबन सांप्रदायिक नहीं है। सार्वजनीन है। सांस का निरीक्षण तथा अपने ही मन और शरीर की सच्चाइयों का निरीक्षण कोई भी कर सकता है। ऐसा करता हुआ किसी सांप्रदायिक बंधन में नहीं बँधता और लाभ भी सब को एक जैसा होता है। इसी लिए सब आते हैं - हिन्दू-मुस्लिम, बौद्ध-जैन, सिक्ख-ईसाई, पारसी-यहूदी, भारतीय-अभारतीय। कोई भेदभाव नहीं करता धर्म। धर्म तो धर्म है। केवल बौद्धों का होता तो बौद्ध-धर्म होता। सब का है आतः सब आते हैं। सब के नेता आते हैं। बौद्ध भिक्षु ही नहीं बल्कि जैन मुनि और साध्वियां, हिन्दू संन्यासी, ईसाई पादरी और साध्वियां। बड़ी संख्या में आते हैं। उसको अपनत्व लगता है। धर्म है ना! शुद्ध धर्म है जो किसी को सम्प्रदाय में बांधता नहीं, बल्कि सम्प्रदाय के बाड़े तोड़ता है। सब को अपना सा ही लगेगा। धर्म बड़ा महान है! बड़ा बलवान है! धन्य है धर्म! धन्य है धर्म की धर्मता!!

खूब मंगल करे!सदियों तक धर्म मंगल करे!भारत का ही नहीं सारे विश्व का मंगल करे! जन जन का मंगल करे!!

मंगल मित्र,

स. ना. गो.